



॥ ॐ ॥
॥ श्री परमात्मने नमः ॥
॥ श्री गणेशाय नमः ॥

योगकुण्डलिनी उपनिषद्





विषय सूची

॥अथ योगकुण्डलिन्युपनिषत् ॥	3
योगकुण्डलिनी उपनिषद	4
प्रथमोऽध्यायः प्रथम अध्याय.....	4
द्वितीयोऽध्यायः द्वितीय अध्याय.....	27
तृतीयोऽध्यायः तृतीय अध्याय.....	40
शान्तिपाठ	50



॥ श्री हरि ॥

॥ अथ योगकुण्डलिन्युपनिषत् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

योगकुण्डल्युपनिषद्योगसिद्धिहृदासनम् ।
निर्विशेषब्रह्मतत्त्वं स्वमात्रमिति चिन्तये ॥

ॐ सह नावतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ १९ ॥

परमात्मा हम दोनों गुरु शिष्यों का साथ साथ पालन करे। हमारी रक्षा करें। हम साथ साथ अपने विद्याबल का वर्धन करें। हमारा अध्यान किया हुआ ज्ञान तेजस्वी हो। हम दोनों कभी परस्पर द्वेष न करें।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

भगवान् शान्ति स्वरूप हैं अतः वह मेरे अधिभौतिक, अधिदैविक और अध्यात्मिक तीनों प्रकार के विघ्नों को सर्वथा शान्त करें ।

॥ हरिः ॐ ॥



॥ श्री हरि ॥

॥ योगकुण्डलिन्युपनिषत् ॥

योगकुण्डलिनी उपनिषद्

प्रथमोऽध्यायः प्रथम अध्याय

हरिः ॐ ॥ हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्दुवावपि विनश्यतः ॥ १ ॥

चित्त (की चंचलता) के दो कारण हैं, वासना अर्थात् पूर्वार्जित संस्कार एवं वायु अर्थात् प्राण; इन दोनों में से एक का भी निरोध हो जाने पर दोनों समाप्त (निरुद्ध) हो जाते हैं ॥१॥

तयोरदौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा ।
मिताहारश्चासनं च शक्तिश्चालस्तृतीयकः ॥ २ ॥

दोनों में सबसे पहले वायु अर्थात् प्राण पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। प्राणों पर विजय प्राप्त करने के तीन साधन हैं- मिताहार, आसन एवं शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास ॥२॥



एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम् ।
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थाशविवर्जितः ॥ ३ ॥

भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।
आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा ॥ ४ ॥

हे गौतम! अब तुम्हें इनका (मिताहार का) लक्षण कहता हूँ, सादर (ध्यानपूर्वक) सुनो। सबसे पहले साधक को चाहिए कि वह स्निग्ध एवं मधुर भोजन (आधा पेट) करे, (उसका आधा भाग पानी) एवं चौथाई भाग (हवा के लिए) खाली रखे। इस तरह से शिव (कल्याण) के निमित्त भोजन करने को मिताहार कहते हैं। (प्राणजय के लिए प्रमुख) आसन दो कहे गये हैं-पहला है पद्मासन, दूसरा है वज्रासन॥३-४॥

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५ ॥

दोनों पैरों की जंघाओं पर एक दूसरे के ऊपर तलवों को सीधा (ऊपर की ओर) करके रखने से सभी पापों का विनाश करने वाला पद्मासन होता है॥५॥

वामाङ्घ्रिमूलकन्दाधो ह्यन्यं तदुपरि क्षिपेत् ।
समग्रीवशिरःकायो वज्रासनमितीरितम् ॥ ६ ॥



गर्दन, सिर एवं शरीर को एक सीध में रखकर बायें पैर की एड़ी को सीवन (योनि) स्थान में तथा दायें पैर की एड़ी उसके ऊपर लगाकर बैठने को वज्रासन कहा जाता है ॥६॥

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु सञ्चालयेद्बुधः ।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते ॥ ७ ॥

प्रमुख शक्ति कुण्डलिनी कही गई है, बुद्धिमान् साधक उसे चालन क्रिया के द्वारा नीचे से ऊपर दोनों भ्रुकुटियों के मध्य ले जाता है, इसी क्रिया को शक्तिचालिनी कहते हैं ॥७॥

तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् ।
प्राणरोधमथाभ्यासाद्वि कुण्डलिनी भवेत् ॥ ८ ॥

मुख्य रूप से कुण्डलिनी चलाने (जगाने) के दो साधन कहे गये हैं, सरस्वती चालन एवं प्राणरोध (प्राणायाम) । प्राणों के निरोध के अभ्यास से लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती है ॥८॥

तयोरौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते ।
अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती ॥ ९ ॥



इस प्रकार पहले तुमको 'सरस्वती चालन' के बारे में बताता हूँ। प्राचीन काल के विद्वान् इस सरस्वती को अरुंधती भी कहते थे॥९॥

यस्याः सञ्चालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली ।
इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम् ॥ १० ॥

जिस समय इड़ा नाड़ी चल रही हो, उस समय दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर इसके (सरस्वती के) भली प्रकार संचालन करने से कुण्डलिनी स्वयं चलने (जाग्रत् होने) लगती है॥ फिर उस नाड़ी को द्वादश अंगुल लम्बे और चार अंगुल चौड़े अम्बर (वस्त्र) के टुकड़े से लपेटे॥१०-११॥

द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम् ।
विस्तीर्य तेन तत्राडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः ॥ ११ ॥

अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ।
स्वशक्त्या चालयेद्दामे दक्षिणेन पुनःपुनः ॥ १२ ॥

तब दृढ़तापूर्वक दोनों नासा छिद्रों को अङ्गुष्ठ एवं तर्जनी से पकड़कर अपनी (इच्छा) शक्ति से पहले बायें, फिर दायें नासिका के छिद्र से बार-बार रेचक और पूरक करे॥१२॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः ।
ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किञ्चित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम् ॥ १३ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥ १४ ॥

इस तरह निर्भय होकर दो मुहूर्त (= ४ घटी= ९६ मिनट) तक इसको चलाना चाहिए, साथ ही कुण्डलिनी में स्थित सुषुम्ना नाड़ी को किंचित् मात्र ऊपर खींचे ॥ इस तरह से (सरस्वती चालन क्रिया से) कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी हो जाती है। इसके साथ ही प्राण अपना स्थान छोड़कर सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है ॥१३-१४ ॥

तुन्दे तु तानं कुर्याच्च कण्ठसङ्कोचने कृते ।
सरस्वत्यां चालनेन वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत् ॥ १५ ॥

कण्ठ संकोचन के सहित पेट को ऊपर की ओर खींचकर इस सरस्वती चालन से वायु ऊर्ध्वगामी होकर वक्षस्थल से भी ऊपर चला जाता है ॥१५ ॥

सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने ।
कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत् ॥ १६ ॥

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं शब्दगर्भा सरस्वतीम् ।
यस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ १७ ॥

सरस्वती चालन करते समय सूर्य नाड़ी (दाहिने स्वर) के द्वारा रेचक करते हुए कण्ठ संकोचन करने से (अधोगत) वायु वक्षस्थल से ऊपर की ओर गमन कर जाता है ॥ इसलिए नियमित रूप से शब्दगर्भा (शब्दमयी) सरस्वती संचालन करना चाहिए अर्थात् उक्त 'सरस्वती चालन' क्रिया करनी चाहिए। इसका संचालन करने वाला योगी सभी प्रकार के रोगों से मुक्त हो जाता है ॥१६-१७ ॥

गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः ।
सर्वे ते शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम् ॥ १८ ॥

इस शक्तिचालन क्रिया से जलोदर, गुल्म, प्लीहा एवं पेट के समस्त रोग निश्चित ही समाप्त हो जाते हैं ॥१८ ॥

प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः ।
प्राणश्च दहनो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः ॥ १९ ॥

अब प्राणों का निरोध अर्थात् प्राणायाम करने की विधि बतलाते हैं। शरीर में संचरण करने वाली वायु को प्राण कहा जाता है, उसे जब (प्राणायाम के द्वारा) स्थिर किया जाता है, तब उसे कुम्भक कहते हैं ॥१९ ॥

स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा ।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥ २० ॥



यह कुम्भक दो प्रकार का बताया गया है- १. सहित तथा २. केवल । सहित कुम्भक का अभ्यास तब तक करते रहना चाहिए, जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाये॥२०॥

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका ।
भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः ॥ २१॥

सूर्यभेदन, उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका-ये चार कुम्भक के भेद सहित कुम्भक' कहलाते हैं॥२१॥

पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते ।
धनुःप्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते ॥ २२॥

पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे ।
बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥ २३॥

जहाँ पर कंकड़-पत्थर आदि न हो, आस-पास घास, अग्नि, जल और शीत आदि न हो, पवित्र एवं एकान्त स्थान हो, वहाँ पर न अति नीचा, न अति ऊँचा, सुख देने वाला आसन बिछाकर बद्ध पद्मासन लगाकर सरस्वती चालन क्रिया करनी चाहिए॥२२-२३॥

दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः ।
यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ॥ २४॥



श्वास द्वारा धीरे-धीरे दाहिनी नासिका से बाहरी वायु को खींचकर पर्याप्त मात्रा में उदर में भरे, तत्पश्चात् बायीं नासिक-इड़ा से रेचन करना चाहिए॥२४॥

कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं शनैः ।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ॥ २५॥

कपालशोधन क्रिया में भी धीरे-धीरे वायु का रेचन करना चाहिए। इस प्रकार करने से चारों तरह के वातदोष तथा कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं॥२५॥

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम् ।
मुखं संयम्य नाडिभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥ २६॥

यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥ २७॥

शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम् ।
सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम् ॥ २८॥

नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम् ।
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥ २९॥

इस क्रिया का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए, सूर्यभेदन इसी क्रिया का नाम है। (उज्जायी प्राणायाम का वर्णन) मुँह बंद रखते हुए दोनों नासा छिद्रों से वायु को धीरे-धीरे इस प्रकार खींचना चाहिए कि

प्रवेश के साथ श्वास से ध्वनि होती रहे। इस प्रकार हृदय एवं कण्ठ तक वायु को भरे। पुनः पहले की तरह कुम्भक करके बायें नासा छिद्र से रेचन करना चाहिए, इसके करने से सिर की गर्मी, गले का कफ दूर हो जाता है, जठराग्नि बढ़ती है, नाड़ी जलोदर तथा धातुरोग भी समाप्त हो जाते हैं। उज्जायी नामक इस कुम्भक को स्थिर रहते अथवा चलते-फिरते कभी भी करते रहना चाहिए ॥२६-२९॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु ।
शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ॥ ३० ॥

गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम् ।
विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥ ३१ ॥

शीतली प्राणायाम में जिह्वा के द्वारा वायु को खींचकर पहले की तरह कुम्भक करके नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकाले। इसके करने से प्लीहा, गुल्म, पित्त, ज्वर, तृषा आदि रोगों का शमन होता है ॥३०-३१॥

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः ।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ३२ ॥

यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः ।
वेगेन पूरयेत्किञ्चिद्धृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ३३ ॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ३४ ॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः ।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ॥ ३५ ॥

यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु ।
धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ३६ ॥

कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचेयेदिडयानिलम् ।
कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ३७ ॥

कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम् ।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ३८ ॥

गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥ ३९ ॥

भस्त्रिका प्राणायाम के लिए पद्मासन में बैठकर शरीर को गर्दन सहित सीधा करके सर्वप्रथम मुख को बन्द करके नासिका के द्वारा वायु को बाहर निकाले । पुनः इस तरह तीव्रता के साथ वायु को खींचे कि वायु का स्पर्श कण्ठ, तालु, सिर एवं हृदय को मालूम पड़े। फिर उसका रेचन करके पुनः पूरक करे, इस तरह बार-बार वेगपूर्वक लुहार की धौंकनी की तरह वायु को खींचे एवं निकाले। इस प्रकार शरीरस्थ वायु को सावधानी के साथ चलाना चाहिए। जब थकान मालूम पड़े, तब दाहिने (सूर्य) स्वर से वायु को खींचकर तर्जनी को

छोड़कर नासिका को कसकर पकड़कर वायु का कुम्भक करे, फिर बायें नासा(इड़ा)छिद्र से निकाल देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से कण्ठ की जलन मिटती है एवं जठराग्नि की वृद्धि होती है। यह प्राणायाम सुख देने वाला, पुण्यकारी, पापनाशक तथा कुण्डलिनी को जगाने वाला है। सुषुम्ना नाड़ी के मुख पर जो (बाधक) कफ आदि रहता है, इसके अभ्यास से वह सब नष्ट हो जाता है तथा सत, रज, तम इन तीनों गुणों से उत्पन्न तीनों ग्रंथियों का भेदन करता है। इसलिए विशेष रूप से इस भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥३२-३९॥

**चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ॥ ४० ॥**

निष्पाप योगी को इन चारों प्रकार के प्राणायामों के कुम्भक के समय तीन प्रकार के बन्ध (मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध) भी लगाने चाहिए॥४०॥

**प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः ।
जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ॥ ४१ ॥**

प्रथम को मूलबन्ध, द्वितीय को उड्डियान बन्ध और तीसरे को जालन्धर बन्ध कहते हैं। अब उनके लक्षण अर्थात् साधना की विधि कहते हैं॥४१॥

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥ ४२ ॥

शरीर के अधोभाग में विचरण करने वाले अपान वायु को, गुदा को संकुचित करके बलपूर्वक ऊपर उठाने की प्रक्रिया को मूलबन्ध कहते हैं ॥४२॥

अपाने चोर्ध्वं गेयाते सम्प्राप्ते वह्निमण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुनाऽऽहता ॥ ४३ ॥

ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ४४ ॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहतभुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ४५ ॥

बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥ ४६ ॥

अपान वायु ऊर्ध्वगमन करके जब वह्निमण्डल से योग करता है, उस समय वायु से आहत होकर अग्नि बहुत तेज हो जाती है। तत्पश्चात् उष्ण स्वरूप वाले प्राण में अग्नि और अपान के मिल जाने पर, उसके प्रभाव से देहजन्य विकार जल जाते हैं। (इसके बाद) उस अग्नि से तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होकर प्रताड़ित की हुई सर्पिणी

के समान हुंकारती हुई सीधी हो जाती है॥ उस समय यह अग्नि (कुण्डलिनी) विवर में प्रवेश करने की तरह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश कर जाती है, इसलिए इस मूलबन्ध का अभ्यास योगियों को सदैव करते रहना चाहिए॥ ४३-४६॥

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डियते यतः ॥ ४७॥

तस्मादुड्डियाणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ ४८॥

गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।
पश्चिमं तानमुदरे धारयेद्-हृदये गले ॥ ४९॥

शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं निगच्छति ।
तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः ॥ ५०॥

कुम्भक करके जब रेचक करते हैं, उससे पहले उड्डियान बन्ध किया जाता है, जिसके करने से यह प्राण सुषुम्ना नाड़ी के भीतर ऊर्ध्वगमन करता है, इसीलिए योगीजनों द्वारा यह 'उड्डियाण' कहलाता है। इसके लिए वज्रासन में बैठकर पैरों पर दोनों हाथों को दृढ़ता पूर्वक रखे। जहाँ गुल्फ (टखना) रखा जाता है, उसके समीपस्थ कन्द को दबाते हुए, पेट को ऊपर की ओर खींचते हुए, गला एवं हृदय को भी तनाव देते हुए खींचना चाहिए, इस प्रकार प्राण धीरे-धीरे पेट की सन्धियों में प्रवेश कर जाता है, इससे पेट के समस्त विकार दूर हो



जाते हैं। इसलिए इस क्रिया को निरन्तर करते रहना चाहिए॥४७-
५०॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कण्ठसङ्कोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ॥ ५१ ॥

पूरक के अन्त में वायु को रोकने के लिए कण्ठ संकोचन क्रिया करते हैं, जिसे जालन्धर बन्ध कहते हैं॥५१॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ५२ ॥

मूलबन्ध के द्वारा अधोभाग में गुदा का संकोचन करके कण्ठ संकोचन अर्थात् जालन्धर बन्ध करे, बीच में (पेट में) उड्डियान बन्ध के द्वारा प्राण वायु को खींचना चाहिए। इस तरह प्राण को सब ओर से रोकने से वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी होता है॥५२॥

पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः ।
चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत् ॥ ५३ ॥

पूर्व में बतायी गयी विधि से ठीक तरह से आसन पर बैठकर 'सरस्वती चालन' के द्वारा प्राणों का निरोध करना चाहिए॥५३॥



प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम् ।
प्रत्येकं दशसङ्ख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा ॥ ५४ ॥

विशत्यलं तृतीयेऽह्नि पञ्चवृद्ध्या दिने दिने ।
कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः ॥ ५५ ॥

चारों प्रकार के कुम्भक को पहले दिन दस-दस बार किया जाता है, दूसरे दिन पन्द्रह-पन्द्रह बार कुम्भक करे। प्राणायाम के क्रम में तीसरे दिन बीस-बीस बोर अभ्यास करे। इस प्रकार प्रतिदिन पाँच-पाँच संख्या में बढ़ाता चले। कुम्भक का अभ्यास तीनों बन्धों के साथ प्रतिदिन करना चाहिए ॥५४-५५॥

दिवा सुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात् ।
बहुसङ्क्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः ॥ ५६ ॥

विषमाशनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात् ।
शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी ॥ ५७ ॥

दिन में सोना, रात्रि का जागरण, अतिमैथुन, मल एवं मूत्र के वेग को रोकना, ज्यादा चलना, आसनों का उचित ढंग से अभ्यास न करना, प्राणायाम की क्रिया में बहुत शक्ति लगाना तथा चिन्तित रहना-इन दोषों के कारण साधक शीघ्र रोगी हो जाता है ॥५६-५७॥

योगाभ्यासेन मे रोग उत्पन्न इति कथ्यते ।
ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्न उच्यते ॥ ५८ ॥

द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता ।
आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम् ॥ ५९ ॥

षष्ठं तु विरतिभ्रान्तिः सप्तमं परिकीर्तितम् ।
विषमं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम् ॥ ६० ॥

अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः ।
इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद्बुधः ॥ ६१ ॥

मुझे योगाभ्यास के द्वारा रोग हो गया है, यदि कोई साधक यह कहकर अभ्यास बन्द कर दे, तो समझना चाहिए कि योगाभ्यास का यह पहला विघ्न है। दूसरा विघ्न साधना पर शंका करना अर्थात् विश्वास न होना, तीसरा विघ्न प्रमत्तता है, चौथा विघ्न आलस्य करना, पाँचवाँ विघ्न ज्यादा नींद लेना, छठवाँ विघ्न साधना से प्रेम न होना, सातवाँ विघ्न भ्रान्ति, आठवाँ विघ्न विषय-वासना में अनुरक्ति, नवाँ अनाख्य (अप्रसिद्धि या अनाम) और योग तत्त्व को प्राप्त न होना दसवाँ विघ्न है, इस प्रकार ये दस विघ्न हैं, इन पर विचार करके बुद्धिमान् साधक को इनका त्याग कर देना चाहिए ॥५८-६१॥

प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वस्थया धिया ।
सुषुम्ना लीयते चित्तं तथा वायुः प्रधावति ॥ ६२ ॥

इसलिए नियमित रूप से सत्त्वमयी बुद्धि से विचार कर प्राणायाम करना चाहिए। इस प्रकार के चिन्तन से चित्त सुषुम्ना नाड़ी में लीन रहता है, जिसके कारण उसमें प्राणों का प्रवाह चलने लगता है ॥६२॥

शुष्के मले तु योगी च स्याद्गतिश्चलिता ततः ।
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥ ६३ ॥

मल शोधन होने के बाद जब प्राण प्रवाहित (गतिशील) होने लगे, तभी बलपूर्वक अपान को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए, उससे पहले नहीं ॥६३॥

आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति ॥ ६४ ॥

प्राण को ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रक्रिया के लिए गुदा के आकुंचन की क्रिया को मूलबन्ध कहते हैं। इस क्रिया से अपान ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि के साथ संयुक्त होकर ऊपर की ओर चल देता है ॥६४॥

प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम् ।
मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ॥ ६५ ॥

तेनाग्निना च सन्तप्ता पवनेनैव चालिता ।
प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्ना वदनान्तरे ॥ ६६ ॥

प्राण के स्थान में जब वह अग्नि पहुँचती है और प्राण तथा अपान दोनों मिलकर कुण्डलिनी में मिलते हैं, उस समय उसकी गर्मी से तप्त होकर एवं वायु के बारम्बार दबाव से कुण्डलिनी सीधी होकर सुषुम्ना के मुँह में प्रवेश कर जाती है ॥६५-६६॥

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम् ।
सुषुम्ना वदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत् ॥ ६७ ॥

विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता ।
ऊर्ध्वं गच्छति यच्चास्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम् ॥ ६८ ॥

भ्रुवोर्मध्ये तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम् ।
अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम् ॥ ६९ ॥

तब यह कुण्डलिनी शक्ति रजोगुण से उत्पादित ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करके विद्युत् शिखा की भाँति सुषुम्ना के मुख में ऊर्ध्वगमन करती है-प्रवेश करती है। (वहाँ से) शीघ्र ही हृदयचक्र में स्थित विष्णुग्रन्थि का भेदन कर उसके भी ऊपर रुद्रग्रन्थि (आज्ञा चक्र) में पहुँच जाती है ॥ भ्रुकुटियों के मध्य (आज्ञाचक्र) का भेदन करके यह चन्द्र स्थान में पहुँच जाती है, जहाँ पर षोडश दल वाला अनाहतचक्र स्थित है ॥ ६७-६९ ॥

तत्र शीतांशुसञ्जातं द्रवं शोषयति स्वयम् ।
चलिते प्राणवेगेन रक्तं पीतं रवेर्ग्रहात् ॥ ७० ॥

यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्लेष्मद्रवात्मकम् ।
तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम् ॥ ७१ ॥

यह (कुण्डलिनी शक्ति) वहाँ पर चन्द्रमा के द्वारा निःसृत द्रव को सुखाकर प्राणवायु के वेग से गतिशील होकर, सूर्य से मिलकर, रक्त और पित्त को ग्रहण कर लेती है॥ वहाँ चन्द्र स्थान में जाकर जहाँ शुद्ध श्रेष्मा द्रवस्वरूप रहता है, उस रस पदार्थ को सोखकर उसे गर्म कर देती है, इस तरह वहाँ शीतलता नहीं रह जाती॥७०-७१॥

तथैव रभसा शुक्लं चन्द्ररूपं हि तप्यते ।
ऊर्ध्वं प्रवहति क्षुब्धा तदैवं भ्रमतेतराम् ॥ ७२ ॥

तब यह शुक्ल रूप चन्द्रमा को शीघ्रता से तपा देती है तथा क्षुब्ध होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है॥७२॥

तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषयेषु यत् ।
तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थः स्वात्परतो युवा ॥ ७३ ॥

उस स्थिति में उसे अमृतरस का स्वाद मिल जाता है, इसलिए जो मन पहले बाहरी विषयों में भोगरत रहता था, वह अब अन्तर्मुखी होकर



स्वयं में स्थित स्वकीय आत्मा में आनन्द की अनुभूति करने लगता है ॥७३॥

प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली ।
क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते ॥ ७४ ॥

इस तरह से यह कुण्डलिनी शक्ति अष्टधा प्रकृति (पंच तत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) से गमन करते हुए शिव से एकाकार होती है और उन्हीं में विलीन हो जाती है ॥७४॥

इत्यधोर्ध्वरजः शुक्लं शिवे तदनु मारुतः ।
प्राणापानौ समौ याति सदा जातौ तथैव च ॥ ७५ ॥

इस प्रकार अधोभाग स्थित रज व ऊर्ध्व स्थित शुक्ल(शुक्र), वायु के वेग से शिव में मिल जाते हैं तथा प्राण व अपान भी शिव में विलीन हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें समान रूप से उत्पन्न होने वाला कहा गया है ॥७५॥

भूतेऽल्पे चाप्यनल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते ।
ध्वयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत् ॥ ७६ ॥

जिस प्रकार अग्नि की गर्मी से स्वर्ण गलकर फैल जाता है, ठीक उसी प्रकार यह भौतिक शरीर चाहे छोटा हो या बड़ा (कुण्डलिनी की) उष्णता पाकर वह दिव्यशक्ति पूरे शरीर में फैल जाती है ॥७६॥

आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे ।
देहोऽतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात् ॥ ७७ ॥

जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम् ।
तस्यातिवाहिकं मुख्यं सर्वेषां तु मदात्मकम् ॥ ७८ ॥

इस दिव्यशक्ति (कुण्डलिनी) के प्रभाव से यह आधिभौतिक शरीर आधिदैविक शरीर के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा शरीर अत्यन्त पवित्र होकर सूक्ष्म शरीर की तरह हो जाता है। वह जड़ता भाव को छोड़कर विशुद्ध चिन्मय स्वरूप हो जाता है, जबकि शेष मनुष्य अज्ञानग्रस्त ही बने रहते हैं ॥७७-७८ ॥

जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः ।
इति तं स्वस्वरूपा हि मती रज्जुभुजङ्गवत् ॥ ७९ ॥

मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते ।
रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्भ्रमतो यथा ॥ ८० ॥

उस साधक को अपने 'स्व' रूप की जानकारी हो जाती है, तब वह भव-बन्धन अर्थात् आवागमन से मुक्त हो जाता है, वह काल के पाश से मुक्त हो जाता है, रस्सी में सर्प, सीपी में चाँदी एवं स्त्री में पुरुष के भ्रम की तरह अपने स्वरूप का ज्ञान होने पर साधक को अपने शरीर की नश्वरता का बोध हो जाता है ॥७९-८० ॥

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि ।
स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड तथा सूक्ष्म शरीर एवं सूत्रात्मा के एकाकार होने पर अपनी आत्मा और परम चैतन्य स्वप्रकाशित परमात्मा की एकता का ज्ञान हो जाता है ॥८१॥

शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा ।
मूलकन्दं फणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत् ॥ ८२ ॥

मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता ।
पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः ॥ ८३ ॥

वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन्कुम्भकाविष्टमानसः ।
वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ॥ ८४ ॥

कमल के नाल की तरह कुण्डलिनी शक्ति होती है तथा कमलकन्द की तरह ही मूलकन्द को फणाग्र से देखकर, मुँह में अपने पुच्छ भाग को डालकर ब्रह्मरन्ध्र(सुषुम्ना नाड़ी)के द्वार को ढककर वह सुप्त पड़ी रहती है। इसके जागरण के लिए पद्मासन में बैठकर गुदा को ऊपर की ओर खींचकर कुम्भक करते हुए वायु को ऊपर की ओर ले जाकर वायु के आघात से स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित अग्नि को प्रज्वलित करना चाहिए ॥८२-८४॥

ज्वलनाघातपवनाघातोरूत्रिद्रितोऽहिराट् ।
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ॥ ८५ ॥

रुद्रग्रन्थिं च भित्तैव कमलानि भिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥ ८६ ॥

सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारिणी इति ॥

ऐसा करने से अग्नि और वायु के प्रहार से सुप्त कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों को भेदन करके षट्चक्र को भेदन करती हुई सहस्रार कमल में पहुँच जाती है तथा यहाँ वह शक्ति के रूप में शिव में मिलकर आनन्द प्राप्त करती है। यह अवस्था परमानन्ददायी मुक्तिरूप होती है ॥८५-८७ ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥



॥ श्री हरि ॥

॥ योगकुण्डलिन्युपनिषत् ॥

योगकुण्डलिनी उपनिषद्

द्वितीयोऽध्यायः द्वितीय अध्याय

अथाहं सम्प्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम् ।
यथा विज्ञानवानस्या लोकेऽस्मिन्नजरोऽमरः ॥ १ ॥

अब खेचरी विद्या का वर्णन करते हैं, जिसे जान लेने के बाद व्यक्ति अजर-अमर हो जाता है ॥१॥

मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने ।
बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥ २ ॥

जो मनुष्य जरा, मृत्यु और रोगों से ग्रसित है, वह दृढ़ निश्चय करके खेचरी विद्या का अभ्यास करे ॥२॥

जरा मृत्युगदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले ।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥ ३ ॥



तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत् ।
दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥ ४ ॥

बुढ़ापा, मृत्यु और रोगों का विनाश करने वाली इस खेचरी को इस पृथ्वी पर जो व्यक्ति ग्रन्थों के द्वारा, उनके भावों के द्वारा जानकर अभ्यास करते हैं, इसका ज्ञान रखते हैं, उन्हें समर्पित होकर, गुरु मानकर इसकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यह खेचरी विद्या तथा उसका अभ्यास दोनों दुर्लभ हैं ॥३-४ ॥

अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिध्यति ।
अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम् ॥ ५ ॥

इस खेचरी विद्या का अभ्यास एवं मेलन (साधना) साथ-साथ सिद्ध होता है, केवल अभ्यास करने से 'मेलन' (सिद्धि) की प्राप्ति नहीं हो पाती ॥५ ॥

अभ्यासं लभते ब्रह्मञ्जन्मजन्मान्तरे क्वचित् ।
मेलनं तु जन्मनां शतान्तेऽपि न लभ्यते ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन् ! किसी जन्म में अभ्यास तो मिल भी जाता है, पर मेलन सैकड़ों जन्मों में भी नहीं मिलता ॥६ ॥



अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावसाधितम् ।
मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥ ७ ॥

भाव के सहित बहुत जन्मों में साधना करने पर किसी जन्म में योगी को मेलन प्राप्त हो जाता है ॥७॥

यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः ।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसन्ततौ ॥ ८ ॥

साधक जब गुरु के श्रीमुख से 'मेलन' मंत्र ग्रहण करता है एवं शास्त्रीय परम्परानुसार साधना करता है, तब (कहीं) सिद्धि मिलती है ॥८॥

ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा ।
तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृतेः ॥ ९ ॥

ग्रंथ के निर्देशानुसार अथवा उसके भावानुसार जब विधिवत् जान कर मेलन को प्राप्त कर लेता है, तब साधक संसार-सागर से मुक्त होकर शिवस्वरूप हो जाता है ॥९॥

शास्त्रं विनापि संबोद्धुं गुरवोऽपि न शक्नुयुः ।
तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं मुने ॥ १० ॥



शास्त्र के बिना गुरु भी ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकते, इसलिए हे मुने!
शास्त्र को प्राप्त होना जरूरी है; क्योंकि यह शास्त्र बहुत महत्वपूर्ण
है ॥१०॥

यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्ग्रां पर्यट्टयति ।
यदा संलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः करे स्थिता ॥ ११ ॥

यति (साधक) को चाहिए कि जब तकशास्त्र' की प्राप्ति न हो जाए,
तब तक धरती पर घूम-घूम कर उसे ढूंढना चाहिए। सच्चा शास्त्र-
ज्ञान प्राप्त हो जाने पर हाथों-हाथ सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥११॥

न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये ।
तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम् ॥ १२ ॥

तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत् ।
लब्ध्वा शास्त्रमिदं मह्यमन्येषां न प्रकाशयेत् ॥ १३ ॥

तीनों लोकों में बिना शास्त्र ज्ञान के सिद्धि नहीं मिल सकती। इसलिए
शास्त्र का ज्ञान देने वाला और मेलन(योग)का अभ्यास कराने वाला
गुरु भगवान् की प्रतिमूर्ति होता है, उसका अभ्यास कराने वाले को
'शिव' मानकर उसका आश्रय लेना चाहिए। यह ज्ञान प्राप्त करके
अन्य(अनधिकारी)के समक्ष न प्रकट करे ॥१२-१३॥



तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता ।
यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः ॥ १४ ॥

तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम् ।
तेनोक्तः सम्यग्भ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः ॥ १५ ॥

इसे हर प्रकार से गोपनीय रखते हुए, जहाँ भी इस दिव्य ज्ञान 'योग' में पारंगत गुरु मिलें, उन्हीं के पास जाकर खेचरी विद्या को ग्रहण कर उनके निर्देशानुसार जागरूक होकर अभ्यास करना चाहिए ॥१४-१५॥

अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत् ।
खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूरया ॥ १६ ॥

खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत् ।
खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम् ॥ १७ ॥

इस विद्या से योगी को खेचरी अर्थात् आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त होती है, इसलिए खेचरी का अभ्यास खेचरी बीज (मन्त्र) के योग के साथ करना चाहिए ॥ इस प्रकार का साधक आकाशगामी देवताओं का अधिपति होकर आकाश में विचरण करता रहता है। खेचरी के बीज मंत्र में खेचर का रूप 'ह' कार, आवसथ अर्थात् धारणा को रूप 'ई' कार, अग्नि को रूप 'र' कार और जल का रूप 'अनुस्वार' अर्थात् बिन्दु है। (इस प्रकार इन सबका योग 'हीं' होता है) ॥१६-१७॥

आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति ।
सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ॥ १८ ॥

तस्मात्त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम् ।
तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं मुने ॥ १९ ॥

तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी ।
इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः ॥ २० ॥

खेचरी योग इसी (बीजमन्त्र) से सिद्ध होता है। (इसके आगे) सोमांश चन्द्रबीज 'स' कार होता है, इसके उल्टे गिनने पर नवें अक्षर पर 'भ' है, पुनः चन्द्रबीज 'स' कार है, इसके उल्टे गिनने पर अष्टम अक्षर पर 'म' है, इससे पाँच अक्षर उल्टा गिनने पर 'प' है, पुनः चन्द्रबीज 'स' कार एवं संयुक्त वर्ण युक्त 'क्ष' सबसे अन्तिम अक्षर है। (इस तरह ही, में, सं, में, पं, सं, क्षं खेचरी का मंत्र होता है ।) ॥१८-२०॥

गुरुपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम् ।
यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया ॥ २१ ॥

स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः ।
य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्तितः ॥ २२ ॥

तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते ।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः ॥ २३ ॥

गुरु के द्वारा विधिवत् उपदेश लेकर इस मंत्र का जप करने से यह सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है। इस मंत्र का प्रतिदिन द्वादश बार जप करने से देह में स्थित माया का स्वप्न में भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस मंत्र का जो नियमपूर्वक पाँच लाख जप करता है, उस व्यक्ति की खेचरी स्वयमेव सिद्ध हो जाती है तथा उसके जीवन के सभी विघ्न समाप्त हो जाते हैं एवं उसे देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त होती है ॥२१-२३॥

वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः ।
एवं लब्धा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः ॥ २४ ॥

शरीर में पड़ी झुर्रियों एवं पके केश जैसे लक्षण समाप्त हो जाते हैं अर्थात् वृद्ध भी युवा हो जाता है, इसमें शंका नहीं करनी चाहिए, इसलिए इस महाविद्या का भली-भाँति अभ्यास करना चाहिए ॥२४॥

अन्यथा क्लिश्यते ब्रह्मन्न सिद्धिः खेचरीपथे ।
यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम् ॥ २५ ॥

ततः संमेलकादौ च लब्धा विद्यां सदा जपेत् ।
नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किञ्चित्सिद्धिभाग्भवेत् ॥ २६ ॥

हे ब्रह्मन् ! ऐसा न करने से इस खेचरी की सिद्धि नहीं होती, उल्टे कष्ट ही उठाना पड़ता है। सम्यक् प्रकार से अभ्यास के बाद भी यदि सिद्धि न मिले, तो भी मार्गदर्शक के द्वारा निर्देशित मार्ग का त्याग न करे।



निरंतर इसका जप करना चाहिए, बिना उपयुक्त मार्गदर्शक के सिद्धि सम्भव नहीं॥२५-२६॥

यदिदं लभ्यते शास्त्रं तदा विद्यां समाश्रयेत् ।
ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः ॥ २७॥

यदि यह शास्त्र प्राप्त हो जाये, तो इस विद्या का अभ्यास करे। इस प्रकार भली प्रकार से साधना करने पर साधक को सिद्धि शीघ्र प्राप्त हो जाती है॥२७॥

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित् ।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ॥ २८॥

सबसे पहले साधक गुरु के निर्देशानुसार तालु के मूल स्थान को सात दिनों तक घिसे, जिससे उसका मैल दूर हो जाये॥२८॥

सुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २९॥

इसके बाद थूहर के पत्ते की तरह तीक्ष्णधारयुक्त किसी पवित्र औजार से जिह्वा मूल (नीचे के जबड़े से जीभ को जोड़ने वाले तन्तु) को बाल के बराबर गुरु से कटाये या स्वयं काटे॥२९॥

हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३० ॥

हरड़ और सेंधा नमक का चूर्ण कटे हुए स्थान पर सात दिन तक बुरकता रहे, इसके बाद पुनः उसी प्रकारे 'बाल मात्र (तनिक सा) काटे ॥३०॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलं सिराबद्धं प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

इस तरह लगातार छः महीने प्रयास करने से जीभ का (निचले जबड़े से) सम्बन्ध कट जाता है ॥३१॥

अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत् ।
शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ॥ ३२ ॥

पुनः षण्मासमात्रेण नित्यं सङ्घर्षणान्मुने ।
भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कणबिलावधिः ॥ ३३ ॥

अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता ।
पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया ॥ ३४ ॥

केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक् शाखावधिर्मुने ।
अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु ॥ ३५ ॥

ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः ।
तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधि ॥ ३६ ॥

तब जिह्वा के आगे वाले हिस्से में वस्त्र लपेटकर धीरे-धीरे बाहर की ओर को दोहन करना चाहिए। इस तरह नियमित रूप से अभ्यास करने पर जिह्वा बढ़कर बाहर भृकुटियों के बीच तक पहुँच जायेगी तथा और ज्यादा अभ्यास होने पर दोनों बगल, कान तक पहुँचने लगेगी। बाहर निकलने पर ठोड़ी तक पहुँच जायेगी। इस अभ्यास को यदि बराबर तीन वर्ष तक बनाये रखा जाये, तो जिह्वा सिर के बालों तक पहुँचने लगेगी। इस प्रकार अभ्यास करते रहा जाए, तो जीभ बगल में कन्धे तक एवं नीचे कण्ठकूप तक पहुँच जाती है। आगे और तीन वर्षों तक यदि अभ्यास किया जाये, तो वह गर्दन के पीछे और नीचे कण्ठ के अन्तिम भाग तक पहुँच जाती है। इस प्रकार जिह्वा सिर के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच कर उसे ढक लेगी, इसमें कोई संशय नहीं है ॥३२-३६॥

शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभित् ।
पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता यतिदुर्लभा ॥ ३७ ॥

तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तथा षट्स्वरभिन्नया ।
कुयदिवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहेतवे ॥ ३८ ॥

इस तरह क्रमशः अभ्यास करने पर जिह्वा ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर जाती है। सभी बीजाक्षरों की विधि सहित यह विद्या बहुत कठिन है। पूर्व में कहे हुए इन छः बीजाक्षरों से करन्यास एवं षडंगन्यास करने से ही पूरी सिद्धि मिल सकती है ॥३७-३८ ॥

शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्नहि ।
युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ॥ ३९ ॥

तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुङ्गव ।
यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत् ॥ ४० ॥

तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वामात्रं निवेशयेत् ॥ ४१ ॥

एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति ।
ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमाचरेत् ॥ ४२ ॥

यह अभ्यास बड़ी सावधानी रखते हुए धीरे-धीरे क्रमशः करना चाहिए। जल्दी-जल्दी किया गया अभ्यास शरीर को हानि पहुँचा सकता है। इसलिए इसके अभ्यास में जल्दी नहीं करनी चाहिए। यदि बाह्य (स्थूल) विधि से जिह्वा ब्रह्म विवर में प्रवेश कर जाये, तब अँगुली के अग्रभाग से उठाकर उसे विवर के भीतर कर देना चाहिए ॥ तीन वर्ष तक इस तरह अभ्यास करने पर जिह्वा का प्रवेश ब्रह्म द्वार में हो जाता है। जिह्वा के वहाँ प्रवेश कर जाने पर विधिवत् उसके द्वारा मंथन करना चाहिए ॥ ३९-४२ ॥

मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः ।
खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिध्यते मथनं विना ॥ ४३ ॥

ऐसे कई योग्य साधक होते हैं, जो मंथन के बिना ही खेचरी सिद्ध कर लेते हैं, परन्तु जिन्होंने खेचरी मंत्र सिद्ध कर लिया है, वे ही मन्थन के बिना सिद्ध कर पाते हैं (अन्य नहीं) ॥४३॥

जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत् ।
स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजां वा शलाकिकाम् ॥ ४४ ॥

नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना ।
प्राणान्निरुध्य हृदये सुखमासनमात्मनः ॥ ४५ ॥

शनैः सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये न्यस्य चक्षुषी ।
षण्मासं मथनावस्था भावेनैव प्रजायते ॥ ४६ ॥

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत् ।
न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत् ॥ ४७ ॥

सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत् ।
एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवा ॥ ४८ ॥

जप और मंथन दोनों करने से जल्दी लाभ मिलता है। मंथन हेतु लोहा, चाँदी या स्वर्ण की शलाका के एक सिरे पर दुग्ध लगा हुआ तन्तु लगाए, पुनः उसे नाक में डाल कर सुखासन में बैठ कर प्राण को



हृदय में निरोध करके नेत्रों से भौंहों के मध्य देखते हुए उसी शलाका से मंथन करे। इस प्रकार छः मास तक मंथन करने पर इसका प्रभाव दिखलाई देने लगता है॥ उस समय साधक की अवस्था सोते हुए बालक की तरह होती है। इस मन्थन को मास में एक बार करे, नित्य न करे। जिह्वा को भी ब्रह्मरन्ध्र में बार-बार प्रविष्ट करे। द्वादश वर्ष तक इसी तरह अभ्यास करने से सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है॥४४-४८॥

शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्माविभेदतः ।
ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली ॥ ४९ ॥ इति ॥

अभ्यास की इस अवस्था में योगी अपने अन्तर में पूरे विश्व का दर्शन कर लेता है; क्योंकि जिह्वा के ब्रह्म विवर में जाने वाले मार्ग में ही ब्रह्माण्ड की स्थिति है॥४९॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

॥ द्वितीय अध्याय समाप्त ॥



॥ श्री हरि ॥

॥ योगकुण्डलिन्युपनिषत् ॥

योगकुण्डलिनी उपनिषद्

तृतीयोऽध्यायः तृतीय अध्याय

मेलनमनुः । ह्रीं भं सं पं फं सं क्षम् । पद्मज उवाच ।

अमावास्या च प्रतिपत्पौर्णमासी च शङ्कर ।

अस्याः का वर्ण्यते संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः ॥ १॥

ब्रह्माजी ने कहा! खेचरी का- मेलन मंत्र 'ह्रीं भं से मं पं सं क्षं' है। हे शंकर जी ! कृपा करके आप हमें यह बतायें कि साधक के लिए अमावस्या, प्रतिपदा एवं पूर्णमासी का क्या अभिप्राय है? ॥१॥

प्रतिपद्दिनतोऽकाले अमावास्या तथैव च ।

पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात्स च पन्था हि नान्यथा ॥ २॥

आत्मदर्शन के समय साधक की दृष्टि का वर्णन-) आत्मानुसंधान की साधना के प्रथम चरण में साधक की दृष्टि एवं स्थिति प्रकाशरहित अमावस्या की, द्वितीय चरण में प्रतिपदा (अल्प प्रकाश की) तथा तृतीय चरण में पूर्णिमा (पूर्ण प्रकाश) की होती है। वही कल्याण की स्थिति है ॥२॥

कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात्काममोहितः ।
द्वावेव सन्त्यजेन्नित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत् ॥ ३ ॥

जब मनुष्य कामनाबद्ध होकर विषयों की ओर दौड़ता है, उस समय विषयों को प्राप्त करते हुए कामनाएँ बढ़ती जाती हैं। इसलिए विषय और कामना दोनों से अलग होकर (आत्मा में ध्यान लगाते हुए) ही विशुद्ध परमात्मभाव की प्राप्ति की जा सकती है ॥३॥

अपरं सन्त्यजेत्सर्वं यदिच्छेदात्मनो हितम् ।
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम् ॥ ४ ॥

मनसा मन आलोक्य तत्त्यजेत्परमं पदम् ।
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम् ॥ ५ ॥

अपना हित चाहने वाले को समस्त मिथ्या विषयों को छोड़कर शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्य में मन को स्थिर करके उसी में स्थिर रहना चाहिए ॥ मन से मन को देखते हुए उसकी गतिविधियों का निरीक्षण करके उनसे मुक्त होने को ही परम पद कहा गया है। मन ही बिन्दु (ईश्वर) है और वही (जगत्प्रपंच) की उत्पत्ति एवं स्थिति का मुख्य कारण है ॥४-५॥

मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् ।
न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम् ॥ ६ ॥

जिस प्रकार दूध से घी निकलता है, उसी प्रकार मन से बिन्दु प्रकट होता है। जो भी बन्धन हैं, मन में हैं, बिन्दु में नहीं॥६॥

चन्द्रार्कमध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम् ।
ज्ञात्वा सुषुम्नां तद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥ ७ ॥

स्थित्वासौ बैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत् ।
वायुं बिन्दुं समाख्यातं सत्त्वं प्रकृतिमेव च ॥ ८ ॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डलम् ।
मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम् ॥ ९ ॥

अनाहतं विशुद्धं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम् ।
आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैङ्गिकम् ॥ १० ॥

मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम् ।
विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम् ॥ ११ ॥

जो शक्ति सूर्य और चन्द्र अर्थात् इड़ा-पिंगला नाड़ियों में स्थित है, वही बन्धन कारक है, यह जानकर उन (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों) का भेदन करके प्राणवायु को सुषुम्ना में गतिमान् करना चाहिए, जो इन दोनों के मध्य में स्थित है॥ बिन्दु स्थान में प्राण को रोककर वायु का निरोध नासिका के द्वारा करना चाहिए। बिन्दु, सत्त्व एवं प्रकृति का विस्तार यह प्राणवायु ही है॥ षट्चक्रों को जानकर (उसे भेदकर) सुखमण्डल (सहस्रार चक्र) में प्रवेश करे। मूलाधार, स्वाधिष्ठान,

मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छः चक्र कहे गये हैं। गुदास्थान के समीप मूलाधार, लिंग के समीप स्वाधिष्ठान, नाभिमण्डल में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कण्ठमूल में विशुद्धचक्र एवं मस्तक में आज्ञाचक्र स्थित होता है ॥७-११॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डले ।
प्रविशेद्वायुमाकृष्य तयैवोर्ध्वं नियोजयेत् ॥ १२ ॥

षट्चक्रों की जानकारी प्राप्त करके प्राण को आकर्षित करके सुखमण्डल अर्थात् परमानन्ददायी सहस्रार चक्र में प्रवेश करे और उसे ऊर्ध्वगामी दिशा में नियोजित करे ॥१२॥

एवं समभ्यसेद्वायुं स ब्रह्माण्डमयो भवेत् ।
वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत् ॥ १३ ॥

समाधिमेकेन समममृतं यान्ति योगिनः ।
यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना ॥ १४ ॥

विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि ।
घटमध्यगतो दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते ॥ १५ ॥

भिन्ने तस्मिन्घटे चैव दीपज्वाला च भासते ।
स्वकायं घटमित्युक्तं यथा दीपो हि तत्पदम् ॥ १६ ॥

गुरुवाक्यसमाभिन्ने ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत् ।

कर्णधारं गुरुं प्राप्य कृत्वा सूक्ष्मं तरन्ति च ॥ १७ ॥

अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् ।
परायामङ्कुरीभूय पश्यन्तां द्विदलीकृता ॥ १८ ॥

मध्यमायां मुकुलिता वैखर्या विकसीकृता ।
पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत् ॥ १९ ॥

इस तरह अभ्यसित होकर प्राण ब्रह्माण्ड में स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। समुचित रूप से चित्त, प्राण-वायु, बिन्दु एवं चक्र का अभ्यास हो जाने पर योगियों को परमात्मा से एकाकार होकर समाधि अवस्था में पहुँच कर अमृत-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। जिस तरह लकड़ी में अग्नि है, परन्तु बिना रगड़े हुए वह प्रज्वलित नहीं होती, उसी प्रकार बिना निरन्तर अभ्यास किये हुए योगविद्या का प्रकाश बाहर नहीं आ सकता। जिस प्रकार घड़े के भीतर रखा हुआ दीपक बिना उसका भेदन किये बाहर प्रकाश नहीं दे सकता, ठीक उसी तरह शरीररूपी घट के भीतर स्थित ब्रह्मरूपी प्रकाश तब तक बाहर नहीं दिखता, जब तक गुरुमुख होकर इस शरीररूपी घट का भेदन नहीं किया जाता। कर्णधार (नाविक) रूप गुरु ही इस संसार-सागर से पार होने का उपाय है॥ अपनी श्रेष्ठ वासना अर्थात् उच्च आदर्शवादी महत्त्वाकांक्षा एवं निरन्तर अभ्यास के द्वारा अर्जित शक्ति के माध्यम से ही भवसागर को पार किया जा सकता है। शरीर में स्थित वाणी परारूप में अङ्कुरित होती, पश्यंती रूप में द्विदल (दो पत्ते) होती, मध्यमा में मुकुलित(खिलती-अग्रगामी) होती और वैखरी रूप में आकर पूर्ण विकसित (प्रकट) हो जाती है। इस वाणी का जिस



तरह से प्राकट्य होता है, उसी क्रम में वह विलीन भी हो जाती है ॥१३-
१९॥

तस्या वाचः परो देवः कूटस्थो वाक्प्रबोधकः ।
सोऽहमस्मीति निश्चित्य यः सदा वर्तते पुमान् ॥ २० ॥

शब्दैरुच्चावचैर्नीचैर्भाषितोऽपि न लिप्यते ।
विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयः ॥ २१ ॥

विराड्विरण्यगर्भश्च ईश्वरश्चेति ते त्रयः ।
ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात् ॥ २२ ॥

स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि ।
अण्डं ज्ञानाग्निना तप्तं लीयते कारणैः सह ॥ २३ ॥

परमात्मनि लीनं तत्परं ब्रह्मैव जायते ।
ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ॥ २४ ॥

अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते ।
ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत् ॥ २५ ॥

अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम् ।
प्रकाशयन्तमन्तस्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम् ॥ २६ ॥

उस वाणी का ज्ञान देने वाला 'मैं ही अन्तःस्थित परम देव हूँ' इस तरह
निश्चित रूप से समझ कर जो उसके अनुरूप आचरण करता है,

उसे अच्छा या बुरा कोई भी शब्द कह दिया जाए, तो वह व्यक्ति उससे प्रभावित नहीं होता। विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ ये तीन तरह के पिण्ड कहे गये हैं। विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर तीन ब्रह्माण्ड एवं भूः, भुवः, स्वः क्रमशः ये तीन लोक कहे गये हैं। ये सभी अपनी उपाधियों के समाप्त होने पर पुनः अपनी पूर्व स्थिति में वापस आ जाते हैं। ज्ञानरूपी अग्नि में तप्त होकर अपने कारणों के मूलस्वरूप में विलीन हो जाते हैं॥ यह (जीव) परमात्मा से एकाकार होकर परम अगाध गम्भीर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, उस समय इसका ऐसा रूप होता है, जिसको न तो प्रकाश कहा जा सकता है, न अंधकार ही कहा जा सकता है॥ उस समय एकमात्र नामरहित सत् स्वरूप, अव्यक्ततत्त्व ही शेष रह जाता है।(उस) मध्यस्थ (अन्तःकरण में स्थित) 'आत्मा' का कलश में स्थित दीपक की तरह ध्यान करके (आगे भी निरन्तर) अङ्गुष्ठमात्रधूमरहित ज्योतिस्वरूप, प्रकाशमान, कूटस्थ (शाश्वत) और अव्यय (अविनाशी) आत्मतत्त्व का अन्तःकरण में ध्यान करते रहना चाहिए॥२०-२६॥

विज्ञानात्मा तथा देहे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिः ।
मायया मोहितः पश्चाद्बहुजन्मान्तरे पुनः ॥ २७ ॥

सत्कर्मपरिपाकात्तु स्वविकारं चिकीर्षति ।
कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः ॥ २८ ॥

जाग्रत्स्वप्ने व्यवहरन्त्सुषुप्तौ क्व गतिर्मम ।
इति चिन्तापरो भूत्वा स्वभासा च विशेषतः ॥ २९ ॥



अज्ञानात्तु चिदाभासो बहिस्तापेन तापितः ।
दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना ॥ ३० ॥

मूलतः आत्मा विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) रूप होता है, परन्तु शरीर प्राप्त होने पर वह माया के वशीभूत होकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है और उसी माया में मोहित हो जाता है। जब जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यकर्म उदित होते हैं, तब मानव अपने दोषों को जानने की इच्छा करता है, तब वह सोचता है कि वास्तव में मैं कौन हूँ एवं दोषरूप यह संसार कैसे प्राप्त हुआ है? जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्था में तो मैं ही कर्ता के रूप में व्यवहार करता हूँ, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में मेरी क्या गति होती है? इस तरह चिन्तन करते हुए अपने रूप पर विचार करता रहता है ॥ जिस प्रकार रुई का ढेर आग पाते ही जल जाता है, उसी प्रकार चिदाभास के प्रभाव से सांसारिक ताप से तापित अज्ञान समाप्त हो जाता है ॥२७-३० ॥

दहरस्थः प्रत्यगात्मा नष्टे ज्ञाने ततः परम् ।
विततो व्याप्य विज्ञानं दहत्येव क्षणेन तु ॥ ३१ ॥

मनोमयज्ञानमयान्सम्यग्दग्ध्वा क्रमेण तु ।
घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते ॥ ३२ ॥

इस तरह सांसारिक बोध के समाप्त होने पर प्रत्यगात्मा (शुद्ध आत्मा) प्रकाशित हो जाता है तथा उससे विज्ञान (संसार का विशेष ज्ञान) भी नष्ट हो जाता है। इस तरह क्रमशः मनोमय तथा विज्ञानमय के पूर्णतः



नष्ट हो जाने पर घट के भीतर रखे हुए दीपक की तरह अंतःस्थ प्रकाश रूप आत्मा ही अंतःकरण में प्रकाशित होता रहता है॥३१-३२॥

ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैवमासुप्तेरामृतेस्तु यः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार से नित्य प्रति जो आत्मज्ञानी आत्मा का ध्यान करता है तथा मृत्यु के आने पर भी स्थिर चित्त होकर उस पर ध्यान लगाये रहता है, उसे जीवन (सांसारिकता) से मुक्ति मिल जाती है, वही विज्ञानी है, धन्य है और वह कृत-कृत्य हो जाता है॥३३॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥ ३४ ॥

जीवन्मुक्त साधक का अन्तिम समय (मृत्यु) आने पर वह (शरीर रहते हुए जीवन्मुक्त एवं शरीर समाप्त होने पर) उसी प्रकार विदेह मुक्त हो जाता है, जिस प्रकार वायु (उन्मुक्त) आकाश में स्पन्दनरहित होकर प्रवेश कर जाती है॥३४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ॥ ३५ ॥
इत्युपनिषत् ॥



जो आदि-अंत रहित, नित्य, अव्यय और महान् है तथा जो अटल है एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि पंचमहाभूतों से रहित है, वही विकाररहित परमपवित्र ब्रह्म ही अन्त में शेष बचता है, यही उपनिषद् है ॥३५॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥

॥हरिः ॐ॥



शान्तिपाठ

ॐ सह नावतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ १९ ॥

परमात्मा हम दोनों गुरु शिष्यों का साथ साथ पालन करे। हमारी रक्षा करें। हम साथ साथ अपने विद्याबल का वर्धन करें। हमारा अध्यान किया हुआ ज्ञान तेजस्वी हो। हम दोनों कभी परस्पर द्वेष न करें।

॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

भगवान् शांति स्वरूप हैं अतः वह मेरे अधिभौतिक, अधिदैविक और अध्यात्मिक तीनों प्रकार के विघ्नों को सर्वथा शान्त करें ।

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

॥ इति योगकुण्डलिन्युपनिषत्समाप्ता ॥

॥ योगकुण्डलिनी उपनिषद समाप्त ॥



संकलनकर्ता:

श्री मनीष त्यागी

संस्थापक एवं अध्यक्ष
श्री हिंदू धर्म वैदिक एजुकेशन फाउंडेशन

www.shdvef.com

॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय: ॥